1014

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

साधक-संजीवनी (परिशिष्ट)

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

श्रीमद्भगवद्गीताकी साधक-संजीवनी टीका लिखनेके बाद गीताके जो नये भाव उत्पन्न हुए, उन्हें परम श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने परिशिष्टके रूपमें लिख दिया। परिशिष्टमें गीताके अत्यन्त गुह्य एवं उत्तमोत्तम भावोंका प्राकट्य हुआ है। पहले यह परिशिष्ट अलग-अलग तीन भागोंमें प्रकाशित किया गया। अब आवश्यक संशोधनके साथ सम्पूर्ण परिशिष्टको एक जिल्दमें प्रकाशित किया जा रहा है। इसके सिवाय परिशिष्ट-सहित 'साधक-संजीवनी' को भी प्रकाशित किया जा रहा है। जिनके पास पूर्वप्रकाशित साधक-संजीवनी है और वे साधक-संजीवनीके नये (परिशिष्ट-सहित) संशोधित तथा संवर्धित संस्करणको खरीदनेमें असमर्थ हैं, वे इस परिशिष्टको खरीदकर अपनी जिज्ञासाकी पूर्ति कर सकते हैं।

इस परिशिष्टमें प्रायः वही भाव लेनेका दृष्टिकोण रहा है, जो 'साधक-संजीवनी' टीकामें सर्वथा अथवा उस रूपमें नहीं आये हैं। अतः पाठकोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे इसके साथ-साथ 'साधक-संजीवनी' टीकाको भी देखते हुए इसका अध्ययन-मनन करें।

—प्रकाशक

ॐ श्रीपरमात्मने नम:

साधक-संजीवनी परिशिष्टका

नम्र निवेदन

भगवान् अनन्त हैं, उनका सब कुछ अनन्त है, फिर उनके मुखारविन्दसे निकली हुई गीताके भावोंका अन्त आ ही कैसे सकता है? अलग-अलग आचार्योंने गीताकी अलग-अलग टीका लिखी है। उनकी टीकाके अनुसार चलनेसे मनुष्यका कल्याण तो हो सकता है, पर वह गीताके अर्थको पूरा नहीं जान सकता। आजतक गीताकी जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं, वे सब-की-सब इकट्ठी कर दें तो भी गीताका अर्थ पूरा नहीं होता! जैसे किसी कुएँसे सैकड़ों वर्षोंतक असंख्य आदमी जल पीते रहें तो भी उसका जल वैसा-का-वैसा ही रहता है, ऐसे ही असंख्य टीकाएँ लिखनेपर भी गीता वैसी-की-वैसी ही रहती है, उसके भावोंका अन्त नहीं आता। कुएँके जलकी तो सीमा है, पर गीताके भावोंकी सीमा नहीं है। अत: गीताके विषयमें कोई कुछ भी कहता है तो वह वास्तवमें अपनी बुद्धिका ही परिचय देता है—*'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई॥'* (मानस, बाल० १३। १)।

भगवान्की वाणी बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंकी वाणीसे भी ठोस और श्रेष्ठ है; क्योंकि भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—'**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**' (गीता १०। २)। अत: कितने ही बड़े ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा क्यों न हों और उनकी वाणी कितनी ही श्रेष्ठ क्यों न हो, पर वह भगवान्की दिव्यातिदिव्य वाणी 'गीता' की बराबरी नहीं कर सकती।

पगडण्डीको 'पद्धति' कहते हैं और राजमार्ग, घण्टापथ अथवा चौड़ी सड़कको 'प्रस्थान' कहते हैं। गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—ये तीन प्रस्थान हैं, शेष सब पद्धतियाँ हैं। प्रस्थानत्रयमें गीता बहुत विलक्षण है; क्योंकि इसमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र दोनोंका ही तात्पर्य आ जाता है।

गीता उपनिषदोंका सार है, पर वास्तवमें गीताकी बात उपनिषदोंसे भी विशेष है। कारणकी अपेक्षा कार्यमें विशेष गुण होता है; जैसे—आकाशमें केवल एक गुण 'शब्द' है, पर उसके कार्य वायुमें दो गुण 'शब्द और स्पर्श' हैं।

वेद भगवान्के नि:श्वास हैं और गीता भगवान्की वाणी है। नि:श्वास तो स्वाभाविक होते हैं, पर गीता भगवान्ने योगमें स्थित होकर कही है*। अत: वेदोंकी अपेक्षा भी गीता विशेष है।

सभी दर्शन गीताके अन्तर्गत हैं, पर गीता किसी दर्शनके अन्तर्गत नहीं है। दर्शनशास्त्रमें जगत् क्या है, जीव क्या है और ब्रह्म क्या है—यह पढ़ाई होती है। परन्तु गीता पढ़ाई नहीं कराती, प्रत्युत अनुभव कराती है।

गीतामें किसी मतका आग्रह नहीं है, प्रत्युत केवल जीवके कल्याणका ही आग्रह है। मतभेद गीतामें नहीं है, प्रत्युत टीकाकारोंमें है। गीताके अनुसार चलनेसे सगुण और निर्गुणके उपासकोंमें परस्पर खटपट नहीं हो सकती। गीतामें भगवान् साधकको समग्रकी तरफ ले जाते हैं। सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि सब रूप समग्र परमात्माके ही अन्तर्गत हैं। समग्ररूपमें कोई भी रूप बाकी नहीं रहता। किसीकी भी उपासना करें, सम्पूर्ण उपासनाएँ समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाती हैं। सम्पूर्ण दर्शन समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। अत: सब कुछ परमात्माके ही अन्तर्गत है, परमात्माके सिवाय किंचिन्मात्र भी कुछ नहीं है—इसी भावमें सम्पूर्ण गीता है।

गीताका तात्पर्य '**वासुदेवः सर्वम्**' में है। एक परमात्मतत्त्वके सिवाय दूसरी सत्ताकी मान्यता रहनेसे प्रवृत्तिका

***न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥**
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। (महाभारत, आश्व० १६। १२-१३)

भगवान् बोले—'वह सब-का-सब उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात नहीं है। उस समय मैंने योगयुक्त होकर परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था।'

योगयुक्त अर्थात् योगमें स्थित होकर गीता कहनेका तात्पर्य है कि सुननेवालेका हित किसमें है? उसके हितके लिये क्या कहना चाहिये? भविष्यमें भी जो सुनेगा अथवा पढ़ेगा, उसका हित किसमें होगा?—इस प्रकार सभी साधकोंके हितमें स्थित होकर गीता कही है।

उदय होता है और दूसरी सत्ताकी मान्यता मिटनेसे निवृत्तिकी दृढ़ता होती है। प्रवृत्तिका उदय होना 'भोग' है और निवृत्तिकी दृढ़ता होना 'योग' है। गीता 'सब कुछ परमात्मा है'—ऐसा मानती है और इसीको महत्त्व देती है। संसारमें कार्यरूपसे, कारणरूपसे, प्रभावरूपसे, सब रूपोंसे मैं-ही-मैं हूँ—यह बतानेके लिये ही भगवान्‌ने गीतामें चार जगह (सातवें, नवें, दसवें और पन्द्रहवें अध्यायमें) अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), कृत्स्न अध्यात्म (अनन्त योनियोंके अनन्त जीव), अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ), अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पाञ्च भौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता) तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—ये सब-के-सब '**वासुदेवः सर्वम्**' के अन्तर्गत आ जाते हैं (सातवें अध्यायका उन्तीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। तात्पर्य है कि सत्, असत् और उससे परे जो कुछ भी है, वह सब परमात्मा ही हैं—'**त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्**' (गीता ११।३७)। संसार अपने रागके कारण ही दीखता है। रागके कारण ही दूसरी सत्ता दीखती है। राग न हो तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है। जैसे, भगवान्‌ने कहा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५) 'मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ'। जिस हृदयमें भगवान् रहते हैं, उसी हृदयमें राग-द्वेष, हलचल, अशान्ति होते हैं। हृदयमें ही सुख होता है और हृदयमें ही दुःख आता है। समुद्र-मन्थनमें वहींसे विष निकला, वहींसे अमृत निकला। भगवान् शंकरने विष पी लिया तो अमृत निकल आया। इसी तरह राग-द्वेषको मिटा दें तो परमात्मा निकल आयेंगे। सन्त-महात्माओंके हृदयमें राग-द्वेष नहीं रहते; अतः वहाँ परमात्मा रहते हैं।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह खुले नेत्रोंका ध्यान है। इसमें न आँख बन्द करने (ध्यान) की जरूरत है, न कान बन्द करने (नादानुसन्धान) की जरूरत है, न नाक बन्द करने (प्राणायाम) की जरूरत है! इसमें न संयोगका असर पड़ता है, न वियोगका; न किसीके आनेका असर पड़ता है, न किसीके जानेका। जब सब कुछ परमात्मा ही है तो फिर दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये?

गीता समग्रको मानती है, इसीलिये गीताका आरम्भ और अन्त शरणागतिमें हुआ है। शरणागतिसे ही समग्रकी प्राप्ति होती है। परमात्माके समग्र-रूपमें सब रूप होते हुए भी सगुणकी मुख्यता है। कारण कि सगुणके अन्तर्गत तो निर्गुण भी आ जाता है, पर निर्गुणमें (गुणोंका निषेध होनेसे) सगुण नहीं आता। अतः सगुण ही समग्र हो सकता है।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७।१)। गीता समग्रकी वाणी है, इसलिये गीतामें सब कुछ है। जो जिस दृष्टिसे गीताको देखता है, गीता उसको वैसी ही दीखने लगती है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४।११)।

कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीन ही योग हैं। शरीर (अपरा) को लेकर कर्मयोग है, शरीरी (परा) को लेकर ज्ञानयोग है और शरीर-शरीरी दोनोंके मालिक (भगवान्) को लेकर भक्तियोग है। भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें पहले शरीरीको लेकर और फिर शरीरको लेकर क्रमशः ज्ञानयोग और कर्मयोगका वर्णन किया। फिर ध्यानयोगका वर्णन किया; क्योंकि वह भी कल्याण करनेका एक साधन है। फिर सातवें अध्यायसे भक्तिका विशेषतासे वर्णन किया, जो भगवान्‌का खास ध्येय है। मनुष्य कर्मयोगसे जगत्‌के लिये, ज्ञानयोगसे अपने लिये और भक्तियोगसे भगवान्‌के लिये उपयोगी हो जाता है।

गीतामें समताको 'योग' कहा गया है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। वास्तवमें 'योग' की आवश्यकता कर्ममें ही है, ज्ञानमें भी योगकी आवश्यकता नहीं है और भक्तिमें तो योगकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। ज्ञान और भक्ति वास्तवमें 'योग' ही हैं। कर्म जड़ हैं, बाँधनेवाले हैं और विषय हैं, इसलिये उनमें योगकी आवश्यकता है—'**योगस्थः कुरु कर्माणि**' (गीता २।४८)। कर्मोंमें योग ही मुख्य है—'**योगः कर्मसु कौशलम्**' (गीता २।५०)। योगके सिवाय कर्म कुछ नहीं है—'**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**' (गीता २।४९)। कर्तृत्व भी कर्म करनेसे ही आता है। इसलिये गीतामें 'योग' शब्द विशेषकर 'कर्मयोग' का ही वाचक आता है। गीताकी पुष्पिकामें भी '**योगशास्त्रे**' पदका अर्थ कर्मयोगकी शिक्षा है।

कर्मयोगमें दो विभाग हैं—कर्मविभाग और योगविभाग। कर्मविभाग पूर्वार्ध है और योगविभाग उत्तरार्ध है। कर्म करणसापेक्ष है और योग करणनिरपेक्ष है। कर्मविभागमें कर्तव्यपरायणता है और योगविभागमें स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समता है। संसारमें हमारा जो कर्तव्य होता है, वह दूसरेका अधिकार होता है। इसलिये व्यक्तिका जो कर्तव्य है, वह परिवारका, समाजका और संसारका अधिकार है। जैसे, वक्ताका जो कर्तव्य है, वह श्रोताका अधिकार है और श्रोताका जो कर्तव्य है, वह वक्ताका अधिकार है। वक्ता बोलकर श्रोताके अधिकारकी रक्षा करता है और श्रोता सुनकर वक्ताके अधिकारकी रक्षा करता है। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेसे मनुष्य ऋणमुक्त हो जाता है और उसको 'योग'

की प्राप्ति हो जाती है। दूसरेके अधिकारकी रक्षा करनेका तात्पर्य है—शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्यको अपनी न समझकर, प्रत्युत दूसरोंकी ही समझकर दूसरोंकी सेवामें अर्पित कर देना।

संसारमें वस्तु और व्यक्तिके साथ हमारा संयोग होता है। जहाँ संयोग होता है, वहीं कर्तव्यका पालन करनेकी आवश्यकता होती है। वस्तुका संयोग होनेपर उस वस्तुमें ममता न करके उसका सदुपयोग करना, उसको दूसरोंकी सेवामें लगाना हमारा कर्तव्य है। व्यक्तिका संयोग होनेपर उस व्यक्तिमें ममता न करके उसकी सेवा करना, उसको सुख पहुँचाना हमारा कर्तव्य है। कामना और ममतासे रहित होकर कर्तव्यका पालन करनेसे शरीर-संसारके संयोगका वियोग हो जाता है और योगकी प्राप्ति हो जाती है—'**तं विद्याद् दु:खसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। संयोगका तो वियोग होता है, पर योगका कभी वियोग नहीं होता। योगकी प्राप्ति होनेपर मनुष्य राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसको स्वाधीनता, निर्विकारता, असंगता, समताकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि मैं सदा जीता रहूँ, कभी मरूँ नहीं; मैं सब कुछ जान जाऊँ, कभी अज्ञानी न रहूँ; मैं सदा सुखी रहूँ, कभी दु:खी न रहूँ। परन्तु मनुष्यकी यह चाहना अपने बलसे अथवा संसारसे कभी पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि मनुष्य जो चाहता है, वह संसारके पास है ही नहीं। वास्तवमें मनुष्यको जो चाहिये, वह उसको पहलेसे ही प्राप्त है। उससे गलती यह होती है कि वह उन वस्तुओंको चाहने लगता है, जिनका संयोग और वियोग होता है, जो मिलने और बिछुड़नेवाली हैं। यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु कभी भी हमारेसे अलग होती है, वह सदा ही हमारेसे अलग है और अभी (वर्तमानमें) भी हमारेसे अलग है। जैसे, शरीर कभी भी हमारेसे अलग होगा तो वह सदा ही हमारेसे अलग है और अभी भी हमारेसे अलग है। इसी तरह जो वस्तु (परमात्मा) कभी भी हमारेसे अलग नहीं होती, वह सदा ही मिली हुई है और अभी भी हमारेको मिली हुई है। तात्पर्य यह निकला कि वास्तवमें संसारका सदा ही वियोग है और परमात्माका सदा ही योग है।

कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर ज्ञानयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानते हैं और कोई आचार्य पहले कर्मयोग, फिर भक्तियोग, फिर ज्ञानयोग—यह क्रम मानते हैं। परन्तु गीता पहले ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम मानती है। गीता कर्मयोगको ज्ञानयोगकी अपेक्षा विशेष मानती है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (५। २)। कारण कि ज्ञानयोगके बिना तो कर्मयोग हो सकता है—'**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:**' (३। २०), '**यज्ञायाचरत: कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (४। २३), पर कर्मयोगके बिना ज्ञानयोग होना कठिन है—'**सन्न्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगत:**' (५। ६)। श्रीमद्भागवतमें भी पहले ज्ञानयोग, फिर कर्मयोग, फिर भक्तियोग—यह क्रम कहा गया है*। एक विलक्षण बात और है कि गीता कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको समकक्ष और लौकिक बताती है—'**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०**' (३। ३)। क्षर (जगत्) और अक्षर (जीव)—दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५। १६), पर भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तम: पुरुषस्त्वन्य:**' (१५। १७)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है; अत: कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक हैं। परन्तु भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है; अत: भक्तियोग अलौकिक है।

गीताने भक्तिको सर्वश्रेष्ठ बताया है (छठे अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक)। गीताकी भक्ति भेदवाली नहीं है, प्रत्युत अद्वैत भक्ति है। वास्तवमें देखा जाय तो ज्ञानमें द्वैत है और भक्तिमें अद्वैत है। कारण कि ज्ञानमें तो जड़-चेतन, जगत्-जीव, शरीर-शरीरी, असत्-सत्, प्रकृति-पुरुष आदि दो-दो हैं, पर भक्तिमें केवल भगवान् ही हैं—'**वासुदेव: सर्वम्**' (गीता ७। १९), '**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। भगवान्‌ने ज्ञानके साधनोंमें भी भक्ति बतायी है—'**मयि चानन्ययोगेन०**' (१३। १०) और गुणातीत होनेका उपाय भी भक्ति बताया है—'**मां च योऽव्यभिचारेण०**' (१४। २६)। ज्ञानकी परानिष्ठासे भी पराभक्तिकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (१८।५५)। इस पराभक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—तीनोंकी प्राप्ति हो जाती है (ग्यारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। भगवान् अपने भक्तको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंकी प्राप्ति करा देते हैं (दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक)। भगवान्‌ने अपने भक्तको सबसे उत्तम योगी बताया है—'**स मे युक्ततमो मत:**' (६। ४७), '**ते मे युक्ततमा मता:**' (१२। २), '**स योगी परमो मत:**' (६। ३२)। ध्यानयोगमें भी भक्ति आयी है—'**युक्त आसीत मत्पर:**' (६। १४)। कर्मयोगमें भी भगवान्‌ने भक्ति बतायी है—'**युक्त आसीत मत्पर:**' (२। ६१)। भगवान्‌ने सभी योगोंमें अपनी भक्ति (परायणता) बतायी है, यह भक्तिकी विशेषता

* **योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।**
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (श्रीमद्भा० ११। २०। ६)

है। अर्जुनका प्रश्न भक्तिविषयक नहीं था, फिर भी भगवान्‌ने अपनी तरफसे भक्तिका वर्णन किया (अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवें श्लोकतक)। भक्तिसे समग्र परमात्माकी प्राप्ति होती है (सातवें अध्यायका उन्तीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)।

गीताका सातवाँ, नवाँ और पन्द्रहवाँ अध्याय, दसवें अध्यायका आरम्भ तथा अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे छाछठवेंतकके श्लोक हमें बहुत विलक्षण दीखते हैं। इनमें '**अर्जुन उवाच**' नहीं है अर्थात् ये भगवान्‌ने अपनी तरफसे अत्यन्त कृपा करके कहे हैं।

गीतामें कर्मयोगके वर्णनमें ज्ञानयोग-भक्तियोगकी, ज्ञानयोगके वर्णनमें कर्मयोग-भक्तियोगकी और भक्तियोगके वर्णनमें कर्मयोग-ज्ञानयोगकी बात भी आ जाती है। इसका तात्पर्य है कि साधक कोई भी योग करे तो उसको तीनों योगोंकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसको मुक्ति और भक्ति—दोनों प्राप्त हो जाते हैं। कारण कि परा और अपरा—दोनों प्रकृतियाँ भगवान्‌की ही हैं। ज्ञानयोग पराको लेकर और कर्मयोग अपराको लेकर चलता है। इसलिये किसी एक योगकी पूर्णता होनेपर तीनों योगोंकी पूर्णता हो जाती है। परन्तु इसमें एक शर्त यह है कि साधक अपने मतका आग्रह न रखे और दूसरेके मतका खण्डन या निन्दा न करे, दूसरेके मतको छोटा न माने। अपने मतका आग्रह रहनेसे और दूसरेके मतको छोटा मानकर उसका खण्डन या निन्दा करनेसे साधकको मुक्ति (तत्त्वज्ञान) की प्राप्ति तो हो सकती है, पर भक्ति (परमप्रेम) की अर्थात् समग्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

परिशिष्टके सम्बन्धमें

श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है, जिसका आजतक न तो कोई पार पा सका, न पार पाता है, न पार पा सकेगा और न पार पा ही सकता है। गहरे उतरकर इसका अध्ययन-मनन करनेपर नित्य नये-नये विलक्षण भाव प्रकट होते रहते हैं। गीतामें जितना भाव भरा है, उतना बुद्धिमें नहीं आता। जितना बुद्धिमें आता है, उतना मनमें नहीं आता। जितना मनमें आता है, उतना कहनेमें नहीं आता। जितना कहनेमें आता है, उतना लिखनेमें नहीं आता। गीता असीम है, पर उसकी टीका सीमित ही होती है। हमारे अन्त:करणमें गीताके जो भाव आये थे, वे पहले 'साधक-संजीवनी' टीकामें लिख दिये थे। परन्तु उसके बाद भी विचार करनेपर भगवत्कृपा तथा सन्तकृपासे गीताके नये-नये भाव प्रकट होते गये। उनको अब 'परिशिष्ट भाव' के रूपमें 'साधक-संजीवनी' टीकामें जोड़ा जा रहा है।

'साधक-संजीवनी' टीका लिखते समय हमारी समझमें निर्गुणकी मुख्यता रही; क्योंकि हमारी पढ़ाईमें निर्गुणकी मुख्यता रही और विचार भी उसीका किया। परन्तु निष्पक्ष होकर गहरा विचार करनेपर हमें भगवान्‌के सगुण (समग्र) स्वरूप तथा भक्तिकी मुख्यता दिखायी दी। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता। परन्तु केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। भगवान्‌ने भी सगुणको ही समग्र कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)।

परिशिष्ट लिखनेपर भी अभी हमें पूरा सन्तोष नहीं है और हमने गीतापर विचार करना बन्द नहीं किया है। अत: आगे भगवत्कृपा तथा सन्तकृपासे क्या-क्या नये भाव प्रकट होंगे—इसका पता नहीं! परन्तु मानव-जीवनकी पूर्णता भक्ति (प्रेम) की प्राप्तिमें ही है—इसमें हमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

पहले 'साधक-संजीवनी' टीकामें श्लोकोंके अर्थ अन्वयपूर्वक न करनेसे उनमें कहीं-कहीं कमी रह गयी थी। अब श्लोकोंका अन्वयपूर्वक अर्थ देकर उस कमीकी पूर्ति कर दी गयी है। अन्वयार्थमें कहीं अर्थको लेकर और कहीं वाक्यकी सुन्दरताको लेकर विशेष विचारपूर्वक परिवर्तन किया गया है।

पाठकोंको पहलेकी और बादकी (परिशिष्ट) व्याख्यामें कोई अन्तर दीखे तो उनको बादकी व्याख्याका भाव ही ग्रहण करना चाहिये। यह सिद्धान्त है कि पहलेकी अपेक्षा बादमें लिखे हुए विषयका अधिक महत्त्व होता है। इसमें इस बातका विशेष ध्यान रखा गया है कि साधकोंका किसी प्रकारसे अहित न हो। कारण कि यह टीका मुख्यरूपसे साधकोंके हितकी दृष्टिसे लिखी गयी है, विद्वत्ताकी दृष्टिसे नहीं।

साधकोंको चाहिये कि वे अपना कोई आग्रह न रखकर इस टीकाको पढ़ें और इसपर गहरा विचार करें तो वास्तविक तत्त्व उनकी समझमें आ जायगा और जो बात टीकामें नहीं आयी है, वह भी समझमें आ जायगी!

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

साधक-संजीवनि सुखद, सज्जन जीवन प्रान।
गरल-जलधि कलिकाल महुँ, निकसै अमिय महान॥ १॥
अनुभवसिद्ध सरल अमल, समन सकल भवरोग।
बरनहिं साधन-मरमु सब, सहज सधत सब जोग॥ २॥
साधन-पथ बाधा समन, बढ़हिं बिबेक बिचार।
भव परिहरि हरि सुलभ करि, साधक रुचि अनुसार॥ ३॥
प्रगट भयहु जग जीव हित, मधुर सजीवनि मूर।
नासहिं अघ तम बिबिधि बिधि, सोभहिं जिमि नभ सूर॥ ४॥